

गोरखनाथ के चिन्तन में शुद्धि, साधना और मुक्ति: एक दार्शनिक अध्ययन

प्रो. सुरज प्रकाश गुप्ता

आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग

बी. आर. डी. बी. डी. पी. जी. कॉलेज

आश्रम बरहज, देवरिया, उत्तर प्रदेश

सारांश: गोरखनाथ के दार्शनिक चिन्तन में शुद्धि, साधना और मुक्ति मानव-चेतना के क्रमिक उत्कर्ष की परस्पर सम्बद्ध अवस्थाएँ हैं। इन अवधारणाओं के आलोक में आत्म-साक्षात्कार को शरीर, प्राण, चित्त और चेतना के क्रमिक परिमार्जन से सम्पन्न होने वाली अनुभवपरक साधना के रूप में व्याख्यायित किया गया है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में जहाँ अनेक मतों ने शरीर को बन्धन या त्याज्य माना है, वहीं गोरखनाथ शरीर को साधना का अनिवार्य माध्यम तथा मुक्ति का आधार स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शरीर, प्राण और चित्त परस्पर सम्बद्ध तत्त्व हैं, जिनके समन्वित परिष्कार से आत्मानुभूति सम्भव होती है। इस शोध पत्र में हठयोग की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि उसका उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं, बल्कि शरीर, प्राण और चेतना का संतुलन स्थापित करना है। षट्कर्म, आसन, मुद्राएँ, बन्ध, प्राणायाम आदि को एक क्रमबद्ध साधना-पद्धति के रूप में विवेचित किया गया है, जिसमें प्रत्येक चरण अगले चरण की सफलता का आधार निर्मित करता है। शारीरिक शुद्धि को मानसिक एकाग्रता, प्राण-संतुलन तथा आत्मबोध की पूर्वशर्त के रूप में स्थापित करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि गोरखनाथ के अनुसार आध्यात्मिक उन्नति किसी आकस्मिक अनुभव का परिणाम नहीं, बल्कि अनुशासित साधना की क्रमिक उपलब्धि है। अध्ययन में गोरखनाथ की 'पिण्ड में ब्रह्माण्ड' की अवधारणा का भी दार्शनिक विवेचन किया गया है, जिसके अनुसार मानव-शरीर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म प्रतिरूप है। इस आधार पर शरीर का संरक्षण, शुद्धि और अनुशासन केवल व्यक्तिगत साधना का विषय नहीं, बल्कि व्यापक अस्तित्व के प्रति उत्तरदायित्व का भी द्योतक है।

मुख्य शब्द:- शुद्धि, साधना, मुक्ति, हठयोग, षट्कर्म, आत्म-साक्षात्कार, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, चेतना।

आध्यात्म एवं सत्य की खोज के संदर्भ में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित रही है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति का मूल आधार मन और चेतना का परिष्कार है। प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि साधना का प्रमुख उद्देश्य चित्त की एकाग्रता तथा मानसिक विक्षेपों का निरोध है। किन्तु इस संदर्भ में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस शरीर के माध्यम से सम्पूर्ण साधना-यात्रा सम्पन्न होती है, उसका इस प्रक्रिया में वास्तविक स्थान क्या है? क्या शरीर केवल एक नश्वर भौतिक संरचना है, जिसका आध्यात्मिक उन्नति के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है या वही परम सत्य के साक्षात्कार का सर्वाधिक प्रभावी साधन है? भारतीय साधना-परम्परा में महायोगी गोरखनाथ का चिन्तन इसी प्रश्न का मौलिक एवं व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है। अतएव, इस अध्ययन का मूल उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि गोरखनाथ ने आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया को केवल दार्शनिक चिन्तन व आध्यात्मिक विमर्श तक सीमित न रखकर उसे प्रत्यक्ष साधना का विषय बनाया। उनके अनुसार सत्य की खोज बाह्य जगत में नहीं, अपितु साधक के अपने शरीर, नाड़ियों, प्राणों तथा अंतःचेतना में निहित है। इस प्रकार गोरखनाथ का चिन्तन भारतीय साधना-परम्परा को एक ऐसी व्यावहारिक दिशा प्रदान करता है, जिसमें शरीर, प्राण और चेतना परस्पर संबद्ध तत्त्वों के रूप में आत्मानुभूति की प्रक्रिया का आधार बन जाते हैं। यदि भारतीय दार्शनिक परम्परा का अवलोकन किया जाए, तो महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र योग के स्वरूप का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं व्यवस्थित निरूपण प्रस्तुत करता है। चार अध्यायों में व्यवस्थित यह ग्रन्थ योग का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक आधार निर्मित करता है। पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस प्रकार उनके सम्पूर्ण प्रतिपादन का केन्द्र चित्त, उसकी वृत्तियों तथा उनके निरोध के माध्यम से समाधि या कैवल्य की प्राप्ति है। निःसन्देह यह प्रतिपादन भारतीय दर्शन की एक महान उपलब्धि है, जिसने साधना के

स्वरूप को सुदृढ़ आधार प्रदान किया। किन्तु यहीं एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक प्रश्न भी उत्पन्न होता है। यदि साधना का लक्ष्य चित्त का निरोध है, तो उस चित्त तक पहुँचा कैसे जाए? चित्त न तो प्रत्यक्ष दृश्य है और न ही उसे भौतिक वस्तु की भाँति नियंत्रित किया जा सकता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म, चंचल एवं निरन्तर परिवर्तनशील तत्त्व है।

ऐसी स्थिति में साधक के लिए सीधे चित्त पर अधिकार स्थापित करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। यही वह बिन्दु है जहाँ गोरखनाथ का योगदान भारतीय साधना-परम्परा में विशिष्ट महत्व रखता है। उन्होंने यह अनुभव किया कि सूक्ष्म चित्त तक पहुँचने के लिए साधना को किसी प्रत्यक्ष, अनुभवगम्य तथा व्यावहारिक आधार की आवश्यकता है। इसीलिए उन्होंने शरीर को साधना का प्रारम्भिक एवं अनिवार्य माध्यम स्वीकार किया। गोरखनाथ का यह दृष्टिकोण भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन में एक महत्वपूर्ण वैचारिक परिवर्तन का द्योतक है। उन्होंने साधना को केवल बौद्धिक विमर्श, दार्शनिक तर्क-वितर्क एवं सैद्धान्तिक ज्ञान का विषय न मानकर उसे अनुभवपरक अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके अनुसार आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर होने के लिए साधक को सर्वप्रथम अपने शरीर, प्राण और अन्तःशक्ति का परिष्कार करना आवश्यक है। इसके लिए नाथ परम्परा में उन विविध साधना-प्रविधियों का विकास हुआ, जिन्हें हठयोग के नाम से जाना जाता है। इस परम्परा में साधना की प्रक्रिया मन से नहीं, बल्कि शरीर और प्राण के क्रमिक अनुशासन से प्रारम्भ होती है, जिसके माध्यम से साधक अन्ततः चित्त की स्थिरता एवं आत्मानुभूति की अवस्था तक पहुँचता है। इस स्थल पर एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यदि गोरखनाथ ने शरीर को साधना का मूलधार स्वीकार किया, तो उन्होंने शरीर के परिष्कार और उसके आध्यात्मिक रूपान्तरण के लिए किन साधनाओं एवं प्रविधियों का प्रतिपादन किया तथा आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में उनकी क्या भूमिका है।

यहीं से हठयोग के वास्तविक स्वरूप को समझने की आवश्यकता उत्पन्न होती है। सामान्यतः 'हठ' शब्द का प्रयोग दुराग्रह या शरीर को कठोर कष्ट देने वाली तपस्याओं के अर्थ में किया जाता है। परिणामस्वरूप यह धारणा निर्मित हो जाती है कि हठयोग का तात्पर्य शरीर को यातना देकर आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना है। किन्तु नाथ परम्परा में यह धारणा सर्वथा भ्रामक है। वस्तुतः हठयोग शरीर के दमन का नहीं, अपितु उसके परिष्कार, प्राणशक्ति के संतुलन तथा चेतना के क्रमिक उत्कर्ष का विज्ञान है। इसका उद्देश्य साधक को ऐसी आन्तरिक अवस्था तक पहुँचाना है, जहाँ शरीर, प्राण और चित्त परस्पर सामंजस्य स्थापित कर आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर हों। नाथ दर्शन के अनुसार, 'ह' का अर्थ पिंगला या सूर्य नाड़ी है और 'ठ' का अर्थ इडा या चंद्र नाड़ी है। पिंगला नाड़ी को उष्णता का प्रतीक माना जाता है जबकि इडा नाड़ी शीतलता का प्रतिनिधित्व करती है। हठयोग का वास्तविक प्रयोजन इन दोनों परस्पर पूरक ऊर्जाओं के मध्य संतुलन स्थापित करना है। अतः हठयोग का आधार न तो शरीर को पीड़ित करना है और न ही किसी प्रकार का दुराग्रह, बल्कि शरीर, प्राण तथा चित्त को इस प्रकार परिष्कृत करना है कि साधक अपनी अंतर्निहित आध्यात्मिक शक्ति का अनुभव कर सके। इसी संदर्भ में नाथ परम्परा शिव और शक्ति के ऐक्य की अवधारणा को हठयोग का परम लक्ष्य स्वीकार करती है। यहाँ शिव और शक्ति का तात्पर्य किसी पौराणिक आख्यान से नहीं है, बल्कि वे आध्यात्मिक एवं योगिक प्रतीक हैं। शिव परम, निर्विकार, निश्चल एवं सर्वव्यापी चेतना के द्योतक हैं, जबकि शक्ति उसी चेतना की गतिशील, सृजनात्मक एवं क्रियाशील अभिव्यक्ति है। सामान्य अवस्था में यह शक्ति मानव शरीर में सुप्त रूप से विद्यमान रहती है, जिसे योगशास्त्र में कुण्डलिनी के नाम से अभिहित किया गया है। हठयोग की क्रमबद्ध साधना के माध्यम से यही कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होकर क्रमशः ऊर्ध्वगामी होती है तथा सहस्रार में स्थित परम चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। यही शिव

और शक्ति के मिलन की अवस्था है, जिसे योग की सर्वोच्च उपलब्धि माना गया है। हठयोग की इसी गूढ़ साधना-पद्धति का विस्तृत निरूपण शिव संहिता, गोरक्ष संहिता, हठयोग प्रदीपिका तथा घेरण्ड संहिता जैसे ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों का उद्देश्य केवल शारीरिक अभ्यासों का विधान करना नहीं है, अपितु साधक को उस क्रमिक आध्यात्मिक प्रक्रिया से परिचित कराना है जिसके माध्यम से शरीर साधना का उपकरण, प्राण उसकी प्रेरक शक्ति तथा चेतना उसका परम लक्ष्य बन जाती है। इस दृष्टि से शरीर साधना का अवरोधक नहीं, बल्कि आत्मानुभूति का आधार है; क्योंकि इसी के माध्यम से साधक अपनी अन्तर्निहित शक्ति को जागृत कर परम चेतना से तादात्म्य स्थापित करता है। यद्यपि हठयोग की समस्त साधना-पद्धति साधक को इस परम अवस्था तक ले जाने के लिए व्यवस्थित रूप से निर्मित की गई है, तथापि यहाँ एक महत्वपूर्ण दार्शनिक पश्च उपस्थित होता है कि यदि साधना का अंतिम लक्ष्य मोक्ष अथवा आत्म-साक्षात्कार है, तो इस प्रक्रिया में शरीर, जीवात्मा, बन्धन और मुक्ति के पारस्परिक संबंध को किस प्रकार समझा जाए।

कई प्राचीन दार्शनिक परम्पराओं में शरीर को माया, बन्धन या त्याज्य तत्त्व के रूप में देखा गया है। इस दृष्टिकोण के विपरीत गोरखनाथ शरीर के प्रति एक सर्वथा नवीन एवं सकारात्मक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार शरीर न तो त्याज्य है और न ही आत्म-साक्षात्कार में बाधक; अपितु यही आध्यात्मिक उन्नति का प्रधान साधन है। गोरखनाथ के मत में यह भौतिक शरीर शिव और शक्ति की अद्भुत आत्माभिव्यक्ति है, जिसमें परम चेतना के प्राकट्य की पूर्ण सम्भावना निहित है। वस्तुतः शरीर तभी तक बन्धन का कारण है, जब तक वह विकारों, मलिनताओं तथा अशुद्धियों से आच्छादित रहता है; किन्तु जब यही शरीर साधना की विधियों द्वारा शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाता है, तब वही आत्मबोध या आत्म-साक्षात्कार का सर्वाधिक समर्थ माध्यम बन जाता है। इस प्रकार गोरखनाथ शरीर को बन्धन और मुक्ति दोनों की सम्भावनाओं का आधार स्वीकार करते हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए शरीर की तुलना एक सु-संयोजित वाद्ययंत्र से की जा सकती है। जिस प्रकार यदि वीणा के तार जर्जर, अशुद्ध, असंतुलित हों तो कुशल वादक भी मधुर संगीत उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार अशुद्ध एवं असंतुलित शरीर में उच्चतर चेतना का अनुभव संभव नहीं हो सकता। यहाँ शरीर और उसकी नाड़ियाँ उस वीणा के समान हैं तथा चेतना उसका दिव्य संगीत है। अतः जिस प्रकार वाद्ययंत्र के परिष्कार के बिना संगीत की सिद्धि असंभव है, उसी प्रकार शरीर के शोधन के बिना आत्मानुभूति की अपेक्षा भी निरर्थक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'घेरण्ड संहिता' में शरीर के आन्तरिक शोधन हेतु षट्कर्मों का विधान किया गया है। धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक तथा कपालभाति ये छह शोधन प्रक्रियाएँ शरीर को बाह्य एवं आन्तरिक स्तर पर शुद्ध करने के लिए प्रतिपादित की गई हैं। "योगी के लिए उक्त छहों क्रियाएँ अत्यन्त आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे देह-शुद्धि, रोग-निवृत्ति और स्वास्थ्यवृद्धि होती है। यह क्रियाएँ आभ्यान्तरिक दोषों का शमन करने में बहुत सहायक होती हैं। चिकित्सा शास्त्र औषधियों के द्वारा मनुष्य को स्वस्थ रख सकता है, जबकि योगशास्त्र के अनुसार यह छः कर्म ही शरीर को पूर्णरूप से निरोग रख सकते हैं।" इनका उद्देश्य केवल शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना नहीं है, बल्कि साधक के शरीर, प्राण तथा नाड़ी-तंत्र को इस प्रकार परिष्कृत करना है कि वह उच्चतर साधना के योग्य बन सके। इसलिए षट्कर्मों को सामान्य चिकित्सकीय प्रक्रियाओं के रूप में नहीं, बल्कि आध्यात्मिक साधना की अनिवार्य तैयारी के रूप में समझना चाहिए। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि साधक इन शोधन प्रक्रियाओं की उपेक्षा कर सीधे ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करे, तो क्या वह आत्म-साक्षात्कार की दिशा में सफल हो सकेगा? गोरखनाथ की दृष्टि में इसका उत्तर नकारात्मक होगा। इसका कारण यह है कि ध्यान की सफलता शरीर, प्राण तथा मन की पूर्वशुद्धि पर निर्भर करती है। यदि शरीर में कफ, पित्त या अन्य शारीरिक विकार विद्यमान हों, नाड़ी-तंत्र असंतुलित हो अथवा श्वास-प्रवाह अवरुद्ध हो, तो साधक का चित्त आत्मतत्त्व में स्थिर होने के स्थान पर शरीरगत पीड़ा, असुविधा या श्वास की बाधाओं में ही उलझा रहेगा। इस प्रकार शारीरिक अशुद्धियाँ मानसिक एकाग्रता में व्यवधान उत्पन्न करती हैं और साधना की प्राप्ति को अवरुद्ध कर देती हैं। अतः गोरखनाथ के अनुसार शारीरिक शुद्धि और चेतना के परिष्कार के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध विद्यमान है। जब शरीर शुद्ध होता है, तब नाड़ी-तंत्र संतुलित होता है; नाड़ी-तंत्र के संतुलित होने पर प्राण का प्रवाह सुचारु होता है; प्राण

के संतुलन से चित्त स्थिर एवं एकाग्र होता है; और स्थिर चित्त ही साधक को आत्मानुभूति की दिशा में अग्रसर करता है। इस प्रकार षट्कर्म केवल शरीर की शुद्धि तक सीमित न रहकर सम्पूर्ण साधना-प्रक्रिया के आधारभूत सोपान के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं, जिनके माध्यम से साधक क्रमशः उच्चतर आध्यात्मिक अवस्थाओं की ओर उन्मुख होता है।

षट्कर्म केवल शारीरिक स्वच्छता की प्रक्रियाएँ नहीं हैं, बल्कि वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होने वाली एक क्रमबद्ध साधना-पद्धति का प्रारम्भिक सोपान हैं। शारीरिक शुद्धि के माध्यम से साधक की नाड़ियों का मल दूर होता है, जिससे प्राण-शक्ति का प्रवाह संतुलित एवं निर्बाध हो जाता है। जब प्राण का प्रवाह संतुलित होता है, तब चित्त की चंचलता स्वतः नियंत्रित होने लगती है और साधक उस अवस्था की ओर अग्रसर होता है जिसे 'अ-मन' कहा जाता है। मेरी दृष्टि में, 'अ-मन' का अभिप्राय मन के पूर्ण अभाव से नहीं, बल्कि उसकी समस्त वृत्तियों के शांत एवं नियंत्रित हो जाने से है। जिस प्रकार मटमैले और निरन्तर कम्पित जल में किसी वस्तु का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार अशुद्ध एवं चंचल मन में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार संभव नहीं हो सकता। अतः शरीर, प्राण और चित्त की शुद्धि गोरखनाथ की साधना-पद्धति में आत्मबोध की अनिवार्य पृष्ठभूमि है। शारीरिक शुद्धि के उपरान्त साधना का क्रमिक अभ्यास आरम्भ होता है। गोरखनाथ के अनुसार आत्म-साक्षात्कार अनुशासित साधना का परिणाम है। इस क्रम में 'आसन' का उद्देश्य शरीर को दीर्घकाल तक स्थिर, संतुलित एवं साधना के योग्य बनाना है। "महर्षि घेरण्ड ने कहा है - संसार में जितने जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है। भगवान् शिव ने पहले चौरासी लाख आसन कहे थे, उनमें से चौरासी आसन श्रेष्ठ हैं। इन चौरासी आसनों में भी बत्तीस आसन अति विशिष्ट और अधिक शुभ समझने चाहिए।" शरीर की स्थिरता के पश्चात् 'मुद्राओं' का अभ्यास किया जाता है, जिनका कार्य साधना से जाग्रत प्राण-ऊर्जा का संरक्षण एवं उसका समुचित संचालन करना है। मुद्राएँ इस ऊर्जा को बाह्य दिशा में व्यय होने से रोककर उसे सुषुम्ना मार्ग की ओर प्रवाहित करती हैं। "मुद्राओं की गोपनीय क्रिया कुण्डलिनी शक्ति को जगाने और वक्रवेध के लिए उपयोगी होती है।" नाथ साधना में मुद्रा के साथ-साथ बन्ध के अभ्यास का भी निर्देश है जो आध्यात्मिक जागरण में सहायक होते हैं। "संस्कृत शब्द बन्ध का शाब्दिक अर्थ है 'बाँधना', 'कसना' या 'जकड़ना'। इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि बन्ध के अभ्यासों में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है, जिसका प्रभाव प्राण-शरीर पर प्रकट होता है। बन्धों का उद्देश्य प्राण-शक्ति को किसी विशेष अंग में रोककर आध्यात्मिक जागरण के लिए उसे सुषुम्ना नाड़ी में पुनः प्रवाहित कराना होता है।" इसके पश्चात् 'प्राणायाम' के माध्यम से प्राण-शक्ति का परिष्कार, विस्तार तथा नियंत्रण किया जाता है। जब साधक प्राण पर अधिकार प्राप्त कर लेता है, तब उसका चित्त स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी होने लगता है और वह ध्यान में प्रवेश करने के योग्य बनता है। इस प्रकार गोरखनाथ की साधना-पद्धति में शारीरिक शुद्धि, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान आदि परस्पर संबद्ध एवं क्रमिक सोपान हैं, जिनका प्रत्येक चरण अगले चरण की सफलता का आधार निर्मित करता है। इस सम्पूर्ण साधना-पद्धति की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह साधक के भीतर किसी बाह्य शक्ति का आरोपण नहीं करती। गोरखनाथ का मत है कि आध्यात्मिक शक्ति, ज्ञान या सत्य बाहर से अर्जित किए जाने वाले तत्त्व नहीं हैं; वे प्रत्येक साधक के भीतर पूर्व से ही निहित रहते हैं। साधना का वास्तविक उद्देश्य किसी नवीन शक्ति की प्राप्ति नहीं, बल्कि उन आवरणों का निराकरण करना है जिन्होंने अन्तर्निहित चेतना को आच्छादित कर रखा है। जब शरीर शुद्ध होता है, प्राण संतुलित होते हैं और चित्त एकाग्र हो जाता है, तब साधक की सुप्त आध्यात्मिक शक्ति स्वाभाविक रूप से जागृत होकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने लगती है। इस प्रकार गोरखनाथ की सम्पूर्ण साधना-पद्धति बाह्य उपलब्धि की अपेक्षा अन्तर्निहित चेतना के उद्घाटन की प्रक्रिया है। इसी क्रमिक साधना का चरम बिन्दु आत्म-साक्षात्कार है। उपनिषदों में प्रतिपादित 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे महावाक्य गोरखनाथ की साधना-पद्धति में केवल दार्शनिक प्रतिज्ञापन या बौद्धिक विमर्श का विषय नहीं रहते, बल्कि साधक के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव में रूपान्तरित हो जाते हैं। इस अवस्था में व्यष्टि और समष्टि, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, जीव और परम चेतना के मध्य प्रतीत होने वाला भेद विलीन होने लगता है तथा साधक अपने

सीमित व्यक्तित्व को उसी अनन्त सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में अनुभव करता है। गोरखनाथ के मतानुसार यही कहा जा सकता है कि शरीर केवल मांस, अस्थि और जैविक संरचना मात्र नहीं है, बल्कि वह एक 'जीवित साधनात्मक प्रयोगशाला' है, जिसमें ब्रह्मांडीय शक्तियाँ, तत्त्व और रहस्य अंतर्निहित रूप से विद्यमान हैं। नाथ परंपरा की "पिंड में ब्रह्मांड" की अवधारणा इसी दृष्टि को अभिव्यक्त करती है, जिसके अनुसार जो कुछ ब्रह्मांड में है, वही सूक्ष्म रूप में मानव-शरीर के भीतर भी निहित है। उनके अनुसार यही वास्तविक आत्मबोध है, जहाँ साधक अपने अस्तित्व के मौलिक स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोरखनाथ का चिंतन किसी एकांगी साधना-पद्धति या शरीर-केंद्रित अनुशासन का प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि वह शरीर, प्राण, मन और आत्मा के समन्वित विकास पर आधारित एक समग्र आध्यात्मिक दृष्टि प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार ये सभी तत्त्व परस्पर पृथक् एवं स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि एक ही साधना-प्रक्रिया के अविभाज्य आयाम हैं, जिनकी सामंजस्यपूर्ण प्रगति ही साधक को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर करती है। इस प्रकार गोरखनाथ की साधना-पद्धति यह प्रतिपादित करती है कि आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग शरीर की उपेक्षा से नहीं, बल्कि उसके परिष्कार, शुद्धि एवं अनुशासन से होकर जाता है। इसी संदर्भ में यह भी स्पष्ट होता है कि गोरखनाथ के चिंतन में शारीरिक शुद्धि का उद्देश्य केवल स्वास्थ्य-संरक्षण या रोग-निवारण नहीं है। शरीर साधना का आधार, प्राण का आश्रय तथा चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है; अतः उसकी शुद्धि उस ब्रह्माण्डीय चेतना के अनुभव की अनिवार्य पूर्वशर्त है। जिस प्रकार दुर्बल एवं जर्जर आधार पर कोई स्थायी निर्माण सम्भव नहीं हो सकता, उसी प्रकार अशुद्ध एवं विकारग्रस्त शरीर उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों का धारक नहीं बन सकता। अतएव, आत्मिक उन्नति में शरीर का परिष्कार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गोरखनाथ की यह दृष्टि समकालीन संदर्भों में भी अत्यन्त प्रासंगिक प्रतीत होती है। आज जब मनुष्य मानसिक तनाव, अस्तित्वगत असंतुलन तथा आन्तरिक विखण्डन जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब गोरखनाथ का यह संदेश कि किसी भी उच्च मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक उपलब्धि का आधार स्वयं का अनुशासित एवं परिष्कृत अस्तित्व है, विशेष महत्त्व रखता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष से मधुर फल प्राप्त करने के लिए उसकी जड़ों का पोषण और भूमि का शोधन आवश्यक होता है, उसी प्रकार आत्मबोध की यात्रा भी शरीर, प्राण और मन के क्रमिक परिष्कार से ही आरम्भ होती है। इस कारण, गोरखनाथ का 'पिण्ड में ब्रह्माण्ड' का सिद्धान्त मनुष्य और सृष्टि (विश्व) के सम्बन्ध को एक नवीन दार्शनिक आधार प्रदान करता है। मुक्ति की अवस्था में साधक यह अनुभव करता है कि मानव-पिण्ड ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म प्रतिरूप है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में विद्यमान है, वही पिण्ड में भी निहित है। अतः पिण्ड और ब्रह्माण्ड में कोई तात्त्विक या वास्तविक भेद नहीं है; साधना का लक्ष्य इसी अभिन्न ऐक्य का प्रत्यक्ष अनुभव कराना है। यह भी विचारणीय सन्दर्भ है कि यदि वास्तव में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का तात्त्विक स्वरूप मनुष्य नामक पिण्ड में निहित है, तो अपने शरीर के प्रति किया गया प्रत्येक व्यवहार केवल व्यक्तिगत क्रिया नहीं रह जाता, बल्कि वह ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के प्रति मनुष्य की दृष्टि और उत्तरदायित्व का भी द्योतक बन जाता है। इस दृष्टि से शरीर की शुद्धि, अनुशासन एवं संरक्षण केवल व्यक्तिगत साधना नहीं, बल्कि व्यापक अस्तित्व के प्रति सम्मान का भी प्रतीक है।

निष्कर्षतः

गोरखनाथ का सम्पूर्ण चिंतन साधक के समक्ष एक दार्शनिक प्रश्न उपस्थित करता है कि यदि पिण्ड वास्तव में ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म प्रतिरूप है, तो क्या अपने ही शरीर की उपेक्षा, अशुद्धि अथवा अवमानना कहीं न कहीं उस व्यापक सृष्टि के प्रति भी हमारी उपेक्षा का संकेत नहीं है, जिसका यह शरीर स्वयं प्रतिबिम्ब है? यह प्रश्न केवल योग-साधना तक सीमित नहीं है, बल्कि मनुष्य के आत्मबोध, उत्तरदायित्व और समस्त अस्तित्व के साथ उसके सम्बन्ध पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा देता है। यही गोरखनाथ के चिंतन की स्थायी प्रासंगिकता है, जो साधना को केवल व्यक्तिगत मुक्ति का साधन न मानकर आत्मतत्त्व, शरीर और ब्रह्माण्ड के मध्य निहित सूक्ष्म एकत्व के अनुभव का माध्यम बनाती है।

सन्दर्भ:-

1. महर्षि पतंजलिकृत: योग-दर्शन, योगसूत्र 1/2, गीताप्रेस, गोरखपुर
2. गौतम, डॉ० चमनलाल: घेरण्ड-संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ० - 21
3. गौतम, डॉ० चमनलाल: घेरण्ड-संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ० - 50
4. गौतम, डॉ० चमनलाल: घेरण्ड-संहिता, संस्कृति संस्थान, बरेली, 2015 पृ० - 82-83
5. स्वामी सत्यानन्द सरस्वती: आसन प्राणायाम मुद्रा बन्ध, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, बिहार, 2015 पृ०- 509
6. बृहदारण्यक उपनिषद्- 1.4.10
7. ब्रह्मांडवर्ति यत्किंचित्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।
8. इति निश्चय एवात्र पिण्डसंवित्तिरुच्यते।। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, 3/2
9. ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः।
10. मेरुश्रेणे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः।। शिव संहिता, 2/5